

किसान आन्दोलन और आय का सवाल

गिरीश सहस्रबुद्धे

08 फरवरी 2022

तीन काले कृषि कानूनों को रद्द करवाने के विषय में जबरदस्त सफलता हासिल करने के बाद किसान आन्दोलन अब अपने विस्तार, प्रचार और आपसी सोच-विचार के दौर में है. देश के कई इलाकों में मोर्चा की पंचायतें, मीटिंगें हो रही हैं. हर कार्यक्रम की व्हाट्सएप ग्रुपों में चर्चा हो रही है. आन्दोलन के यू-ट्यूब और फेसबुक चैनलों पर कार्यक्रमों के व्हिडियो देखने को मिल रहे हैं. सारा देश जानता है कि मोर्चा की जीत कोई मामूली घटना नहीं है. क्या यह सच नहीं कि सारे सरकारी प्रयासों और कयासों के बावजूद आन्दोलन शांतिप्रिय बना रहा? तोड़-फोड़ के हर प्रकार के षडयंत्र से आमना-सामना हो तब, आप हर हेराफेरी से किनार कर, संयम बनाए रखने की ताकत तो फिर एक बार समाज में सत्य के पुनर्निर्माण की सम्भावनाओं का संकेत है. न्याय और आपसी भाईचारे की चाहत रखनेवाले सभी यह संकेत पहचान रहे हैं, और आन्दोलन के अगले चरण के प्रति बड़ी उम्मीदें संजोये हुए हैं, इसमें संदेह नहीं. दूसरी ओर व्यवस्था के पोशिदे लोक-भेद के अपने हथकंडों को अब आनेवाले कुछ दिन चुनावी लोकतंत्र में जायज़ पैतरेबाजी के नाम से इस्तेमाल करने के लिए मुक्त हैं. जिनसे मिलने अपने द्वार तक न जा सके उनके घर जाकर दिल्ली में खातिर के न्योते दिए जा रहे हैं. मानो इसमें से झांकता विलक्षण दंभ बड़प्पन और ताकत का लक्षण हो. लेकिन इन भ्रामक मान्यताओं को आन्दोलन ने कबका झंकझोर के रख दिया है, इस बात को वे समझ नहीं पा रहे हैं. आन्दोलन ने भी स्पष्ट कर दिया है – जो न्योता मानें, वे किसान नहीं, कोई और हैं. सरकार आन्दोलन से किये लिखित वादों से मुकर रही है. सत्ताधारी शायद सोचते हैं कि चुनावी नतीजे अपने आप में आन्दोलन का जवाब होंगे.

एम्एसपी का सवाल

फसलों की एम्एसपी का सवाल किसान आन्दोलन की बची हुई माँगों में सबसे अहम सवाल है. एम्एसपी का किसानों की आय से सीधा रिश्ता है. वापस लिए गए तीन कानूनों को लाने का एक सरकारी मकसद शायद धीरे-धीरे एम्एसपी की जिम्मेदारी से मुक्त होने का भी था. विशेषज्ञों ने कानूनों की वकालत के साथ कई बार यह कहा कि गेहूँ और धान की एम्एसपी पर सरकारी खरीद के कारण खाद्य निगम को आज तक बड़ा घाटा सहना पड़ा है. दर असल घाटा तो राशन की दुकानों में से सस्ता अनाज मुहैया कराने से है, न की अनाज की खरीद से. अगर यह व्यवस्था और सरकार अपने विकास कार्यक्रमों के बल पर सबके लिए सम्मानजनक काम और आय उपलब्ध नहीं

करा सकती, और सस्ता अनाज उपलब्ध कराने को राजनैतिक जरूरत से अधिक और कुछ नहीं समझती, तो इसकी जिम्मेदारी सिर्फ किसानों की तो नहीं हो सकती. न ही यह माना जा सकता है कि इसके लिए किसान अपनी आय इस कदर त्याग दें, और त्यागते रहें, कि उन्हें आम सम्मान की जिदगी भी हासिल न हो. बाकी कर्मचारियों को छोड़ भी दें, क्या सरकार खाद्य निगम तक के कर्मचारियों से तक कह सकती है की वे वेतन आयोग ने तय किये वेतनों से कम वेतन पर काम करें?

एम्प्लोयी के मुद्दे पर सरकारी रवैया आन्दोलन के नज़रिए से एकदम अलग है. सरकार की ओर से कई बार यह कहा गया कि वह एम्प्लोयी को हटाना नहीं चाहती. लेकिन इसका मतलब मात्र इतना ही है कि वह, कमोबेश आज ही की तरह, गेहूं और धान की खरीद उस मात्रा में करती रहेगी जितना कि राशन की दुकानों के लिए काफी होगा. वह भी तभी तक जब तक कि राजनीतिक जरूरत हो. दूसरी ओर किसान एम्प्लोयी को अपनी आय से जोड़ते हैं. वे मानते हैं कि एम्प्लोयी की व्यवस्था सारी कृषि उपज के लिए होनी होगी. यह निश्चित किया जाय कि हर फसल के किसान को एम्प्लोयी से कम की आय न हो. सरकार इसके लिए कानूनी ढाँचा ईजाद करे.

इसके साथ ही एम्प्लोयी के सरकारी हिसाब को भी किसान नकारते हैं. खेती किसानों के ज्ञान और श्रम दोनों के बल पर ही संभव है – किसी भी अन्य सामाजिक मानवीय क्रिया की तरह. खेती की पैदावार का मुआवजा वही होगा जिसके बल पर किसान सम्मान की जिदगी जिए और खेती भी खुशहाल हो. स्वामीनाथन आयोग की सिफारिशों का अर्थ भी यही है. हर खेती उपज की सी-2 में 50% और जोड़ें तभी किसान के जीवन और खेती में खुशहाली आ सकेगी. क्या सभी संगठित आधुनिक क्षेत्रों और उनमें व्यस्त मानवीय संसाधनों के लिए आय के यही मापदंड इस्तेमाल नहीं होते? क्या इन्हीं मापदंडों की कसौटी पर वेतन आयोग भी सरकारी कर्मचारियों का वेतन तय नहीं करता? ऐसी स्थिति में किसानों के विषय में दोगला व्यवहार नहीं हो सकता. किसानों की कौम इसकी इजाज़त नहीं देती. न अपने बारे में, न किसी और समाज के बारे में. इस प्रकार के दोगले व्यवहार के खिलाफ वह सबके साथ है, सबसे आगे है. किसान आन्दोलन की एम्प्लोयी की माँग इस पूरी बहस को आय के सवाल के साथ किसानों के ही नहीं बल्कि सारे शोषित समाजों के पक्ष में खड़ा करती है. यह बहस सार्वजनिक स्तर पर खड़ी होती है तो कई वाजिब सवाल उठेंगे. जैसे, एम्प्लोयी तय करने में खेतीहर मजदूर की मजदूरी संगठित क्षेत्र की न्यूनतम आय से, या वेतन आयोग द्वारा तय न्यूनतम आय से भी, कम क्यों आँकी जाय? और ऐसे ही कई सवाल पूछे जायेंगे. शायद इसी कारणवश आन्दोलन से लिखित वादे के बावजूद सरकार इस बहस से तो दूर, एम्प्लोयी के लिए कमेटी बनाने से भी कतरा रही है.

किसानों की आय और बाजार

कृषि उपज के दामों का सवाल किसान आन्दोलन में पिछले चार दशकों से उठ रहा है. माँग उचित दाम की रही. एम्एसपी तय करने में होनेवाली हेराफेरी पहले भी आन्दोलन का विषय रही. वर्तमान आन्दोलन ने एक बार फिर बड़ी ताकत के साथ इस सवाल को खड़ा किया है. सरकार की ओर से घोषित एम्एसपी गलत मापदंडों के आधार पर तय की गयी है. बाजार में किसान को वह भी हासिल नहीं होती. इसलिए एम्एसपी की बहस सरकारी दोगला व्यवहार और बाजार का चरित्र दोनों पर ध्यान केन्द्रित कराती है. देश के बाजार में मिलनेवाले दाम फसलों के अंतर्राष्ट्रीय दाम और सरकार की आयात-निर्यात, मौद्रिक और राजकोषीय नीतियाँ इन सभी पर निर्भर हैं. ये नीतियाँ नियमित रूप से कृषि उपज के दामों को गिराने के लिए इस्तेमाल होती हैं. इसमें से कौनसा कारक हावी होता है, यह परिस्थितियों से तय होता है. जैसे, इस वर्ष वैश्विक बाजार में कपास के उत्पादन में हुई बड़ी घटौती के कारण दामों में इतनी तेजी है कि जिसकी पूरी रोकथाम सरकार की ताकत से परे है. इसलिए कपास के किसानों को अच्छे दाम मिल रहे हैं. अनाज के दामों के विषय में स्थिति ठीक उलटी है. यह तो आन्दोलन की ताकत थी जिसके कारण सरकार गेहूँ और धान की खरीद से मुकर न सकी. रिकार्ड खरीद हुई. फिर भी तेलंगना में केंद्र सरकार ने धान खरीदने से किनारा कर लिया है.

वैश्विक बाजार में कृषि उपज के दामों में एक बड़ा कारक यह है कि विकसित देशों की सरकारें कृषि उपज की अपनी निर्यात क्षमता बढ़ाने के उद्देश्य से अपने किसानों को सबसिडी देकर दाम गिराती हैं. वे यह कर पाते हैं क्यों कि इन देशों में किसानों की संख्या 4-5 प्रतिशत या और कम है. व्हाया कैम्पेसिना जैसा किसानों का अंतर्राष्ट्रीय संगठन, जिसमें इन देशों के किसानों की आवाज भी शामिल है, इस बात को मानते हैं. लेकिन इसके साथ उनका यह भी कहना है कि यह सबसिडी वास्तव में किसानों के लिए न होकर आधुनिक खेती में लगाए जानेवाले औद्योगिक उत्पादों के लिए है, और उसका मक्सद किसानों से बाजारी ताकतों के सामने घुटने टिकवाने का है. हमारे यहाँ भी ऐसी कई "कृषि-सब्सिडी" हैं जिन्हें वर्र्त-दर-वर्र्त सरकारी महकमों से गिनाया जाता है. व्हाया कैम्पेसिना वर्तमान किसान आन्दोलन का समर्थक है. मोर्चे का व्हाया कैम्पेसिना से वैचारिक भाईचारे का नाता है.

इन सब बातों का अर्थ यही है कि बाजारी ताकतें हमेशा कृषि उपज के दाम गिराने का काम करती हैं. कृषि उपज के दामों में उत्पादन और डिमांड-सप्लाई से सम्बद्ध कारकों से उत्पन्न हुए तात्कालिक अस्थायी उछाल इस तथ्य को नहीं झुठला सकते. जब से उपनिवेश अस्तित्व में आये, वहाँ के लोगों की लूट पर पनपा आधुनिक राजनैतिक-आर्थिक ढांचा कायम हुआ, तब से ऐसे बाजार अस्तित्व में आये जिनका यही चरित्र है. जो काम पहले

कमोबेश सीधी लूट-पाट के जरिये किया जाता था, वही काम अब बाजारी ताकतें करती हैं. यह काम है विषम लेनदेन का - जितना दो, उससे अधिक लो. मुक्त वैश्विक बाजार इसका आधुनिकतम रूप है. वित्तीय पूंजी के मुक्त संचार के अलावा इसमें और कुछ भी मुक्त नहीं है. कृषि उपज के दाम गिरा कर विषम लेन-देन को बढ़ावा देना किसी एक सरकार की ही नीति नहीं, बल्कि व्यवस्थागत नीति और जरूरत है, जिसे इस व्यवस्था को हाँकने का जिम्मा उठाने वाली कोई सरकार अंततोगत्वा टाल नहीं सकती. यह वही व्यवस्था है जिसकी दिलचस्पी किसान को अधिकाधिक मात्रा में बाजार के चक्रव्यूह में लाने में है. आन्दोलन ने वापस कराये तीन कृषि-कानूनों का ठीक यही मकसद था. साथ ही यह वही व्यवस्था है जो मानती है कि किसान की कौम को तो खत्म होना ही है. इस व्यवस्था के सिद्धान्तकार नए नए तरीकों से इस बात को परोक्ष या अपरोक्ष रूप से कहते रहते हैं. जहाँ किसानों की संख्या बहुत कम है वे आधुनिक, विकसित देश माने जाते हैं, और जहाँ संख्या बहुत हो वे पिछड़े! इतना ही नहीं, ऐसे पिछड़े देशों के किसान 'विकास' में रोड़ा भी माने जाते हैं – खासकर तब, जब वे निरस्त कृषि कानूनों जैसे 'आर्थिक सुधारों' के खिलाफ खड़े हो जायें. वर्तमान किसान आन्दोलन की बड़ी सफलताओं में एक यह भी मानी जाएगी कि किसानों ने उनकी नकारात्मक छवि बनाने की हर कोशिश का डटकर मुकाबला किया.

इस बाजार में यह होता है कि हर वह वस्तु जो हमारे उपयोग के लिए किसीने बनाई थी वह मात्र व्यापार का विषय बनकर रह जाती है. लेन-देन स्वाभाविक न रहकर कृत्रिम हो जाता है. जब तक उपभोग्य वस्तुएँ स्थानीय हाटों में बिकती हैं, यह प्रक्रिया एक सीमा से आगे नहीं बढ़ती. लेकिन उपभोग्य वस्तुओं का सारा लेन -देन वहाँ से दूर जाकर हो जहाँ उनका निर्माण हुआ है, तो वह मात्र व्यापार की वस्तु ही रह जाती है, जिसका इस या उस व्यापारी पक्ष से कोई मानवीय सम्बन्ध नहीं बचता. जब अन्न के साथ यह होता है, जो कि तीन कृषि कानूनों के लागू होने की सूरत में निश्चित होता, तब, जैसा की आन्दोलन ने स्पष्ट रूप से कहा, 'अन्न तिजोरी में बंद' कर दिया जाता है और 'भूख का व्यापार' होता है. यह नहीं कि आज से पहले यह हुआ ही नहीं, या आज ऐसा नहीं होता, एक हद तक होता ही है. लेकिन तीन कानून इस बात को अन्न के विषय में एक स्तर और ऊपर उठाते, जहाँ अपनी उपज से तो किसान आज से भी अधिक दूर हटता ही, खेती क्रिया में भी अपनी बची-खुची स्वायत्तता खो देता. जाहिर है, यह संभावना किसानों के संयम की दृष्टि से ऊंट की पीठ पर का आखरी तिनका साबित हुई. किसान आन्दोलन का और उसके सभी समर्थकों का मानना है कि यह सामाजिक न्याय और भाईचारे को जड़ से नष्ट करने का रास्ता है. किसान चाहता है की उसकी उपज उसके आसपास मंडियों में अच्छे दामों में बिके. 'मंडी यानी एपीएमसी' यह मतलब लगाना शायद गलत होगा. मंडी यानी लेन-देन के वह स्थान जहाँ उन बाजारी ताकतों की घुसपैठ न हो जो दाम गिराने का काम करती हैं. चूँकि, किसान इस विषय में सरकार की गलत भूमिका से भी खूब वाकिफ है, वह सरकार को निश्चित

कानूनी बंधन में बांधना चाहता है. सरकार कहती है इसमें इतना पैसा लगेगा जो मुहैया कराना उसके बस की बात नहीं है. अर्थशास्त्री कहते हैं कि बाजार के मुक्त खेल में दखल-अंदाजी नहीं की जा सकती. किसानों का कहना है कि जरूरी नहीं कि सरकार सारी उपज खरीदे, और न ही उनका ऐसा कोई आग्रह है. कुछ विशेषज्ञ कह रहे हैं कि ऐसी कारगर प्रणाली बनाना संभव है जिसमें उपज को किसानों ने गोदामों में जमा करना, गोदामों से उसका एक साथ सौदा कराना, और अंत में किसान को व्यापारी से बाजार के दाम के साथ ही सरकार से एम्पसपी और बाजार के दाम का अंतर मुहैया कराना, ये सारे काम इंटरनेट की मदद से हों. ये बहस तो अपनी जगह ठीक ही है, और होनी भी चाहिए. लेकिन जहाँ एक तरफ सारे वित्तीय, आर्थिक, राजनीतिक अधिकारों और व्यवस्थाओं के सम्पूर्ण केन्द्रीकरण की वर्तमान स्थिति में यह असंभव सा लगता है, वहीं दूसरी तरफ ये बहस उसी व्यवस्था में हल खोजती सी मालूम पड़ती है.

लेकिन किसान की आमदनी बढे और सुनिश्चित हो इसके लिए जरूरत शायद बहुत बड़े वित्तीय इंतजाम की है ही नहीं. बल्कि लेन-देन की उन स्थानीय व्यवस्थाओं को ईजाद करने की है जिनमें स्थानीय समाजों की पहल हो, और जो उन्हीं के द्वारा तय प्राथमिकताओं पर चलें. यह किया जा सके इसके लिए आवश्यक कानून बनें. ये व्यवस्थाएं स्थानीय बाजारों को ताकतवर बनाने की दिशा में ही जायेंगी, जहाँ वैश्विक बाजार और कंपनियों के क्रूर अमानवीय तौर तरीकों से शायद बचा जा सके. साथ ही खेती की क्रिया ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में भी किसान समाज पहल और स्वायत्तता की ओर बढे. इसके लिए जरूरी है कि एम्पसपी या किसान की आय के बारे में खुली बहस हो, आज के बाजारों में व्यवस्थागत विषम लेन-देन पर बड़े सवाल उठाए जाएँ, और उसे टिकाए रखने के वर्तमान तौर तरीकों को खत्म करने के लिए किसानों के परिप्रेक्ष्य से हल ढूँढा जाय.

आय और लोकविद्या

किसान आन्दोलन के ताकतवर होते जाने के कारणों के बारे में एक आम बात यह सुनने में आती रही कि किसानों को समाज के कई तबकों से समर्थन मिल रहा है, या किसान तमाम गैर खेतीहरों को भी अपने समर्थन में लाने में सफल हो गए हैं. इसमें खेतीहर मजदूर, आदिवासी, कारीगर समाजों के अलावा शहरों के मजदूर भी शामिल थे. यहाँ तक कि पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और दिल्ली तक के शहरी मध्यम वर्ग के कई लोग आन्दोलन के समर्थक बने. यह सही ही है. यह व्यापक समर्थन आन्दोलन संपूर्णतया शान्ति बनाए रख मौसम, सरकारी हथकंडे और महामारी का सामना करे इसमें मददगार साबित हुआ. ये कैसे संभव हुआ? इसका सीधा सरल कारण यह है कि किसानों की कौम भारत के उन सभी समाजों में अगुआ है, जिनके लिए उनकी आय का सवाल लगातार

अधिकाधिक गंभीर होता चला गया है. ये वही समाज हैं जो हमेशा ही से अपने ज्ञान और श्रम के बल पर जीते आये हैं, जिनका ज्ञान प्रासंगिक और जीवंत होने के साथ साथ पूरे समाज की धरोहर है और उस समाज के प्रति उत्तरदायी भी. यह ज्ञान हर अर्थ में सामाजिक ज्ञान है. इसकी अपनी गति है जो देश में कितने और कैसे विश्वविद्यालय हैं इससे परिभाषित नहीं होती. न उस ज्ञान का शिक्षा संस्थाओं की किसी डिग्री से कोई वास्ता है. बतौर ज्ञान, जहाँ यह ज्ञान आधुनिक ज्ञान से किसी भी कसौटी पर कम नहीं, वहीं इसकी सामाजिकता और दैनंदिन जीवन में उपयोगिता आधुनिक ज्ञान से कोसों आगे है. इन सभी समाजों का मिला जुला ज्ञान लोकविद्या है. और ये समाज लोकविद्याधर समाज. ये जनसँख्या का अस्सी – पिचासी प्रतिशत हिस्सा हैं. आम लोगों की तमाम जरूरतें इन्हीं के उत्पादक और सेवा कार्यों के बल पर पूरी होती हैं, जो उनकी सामाजिक भागीदारी और हिस्सेदारी का मूल आधार हैं. यही उनकी आय का मूल आधार भी बनता है. आय का सवाल मूल रूप से लोकविद्याधर समाज के लोगों की आय का सवाल है.

वर्तमान राज्य-व्यवस्था लोकविद्या के सामाजिक अस्तित्व को पहचानने से कतराती है, और भारत के तमाम समाजों में वितरित ज्ञान को आधुनिक ज्ञान के मुकाबले पिछड़ा मानती है. लेकिन ऐसा करने का मतलब है इन समाजों की आय के मूल सकारात्मक आधार को ही जड़ से नकारना. इस झूठ के ज़रिये इन समाजों के संसाधनों पर और उनकी आय पर 'विकास' के नाम से कब्जा जमाया जा सकता है. दूसरी तरफ इससे पैदा कृत्रिम गरीबी की सर्वथा झूठी तसवीर खड़ी कर किसान-सम्मान निधि या मुफ्त या सस्ता अनाज की तरह के तथाकथित कल्याणकारी कार्यक्रम भी चलाये जा सकते हैं. साथ ही हर सामाजिक नीति, जैसे सम्मानजनक जीवनयापन के लिए जरूरी संसाधन, या पानी-बिजली का बँटवारा, स्वास्थ्य-प्रणाली, शिक्षा-प्रणाली ... सभी, के मामले में समाज के आधुनिक तबकों की अपेक्षतया इन समाजों के साथ न्याय की अलग कसौटी कायम की जा सकती है. अगर ऐसा नहीं होता तो किसान की पैदावार लागत मूल्यों से कम में कैसे मुहैया कराई जा सकती थी? या कारीगर की आय संगठित क्षेत्र में मिलने वाले न्यूनतम वेतन के तिहाई कैसे हो सकती थी? या शहरी पैसेवालों के मनोरंजन के लिए सुन्दरीकरण के नाम से मछुआरों को उनके तालाबों से कैसे बेदखल किया जा सकता था? आज अगर ऐसे सवालों की फ़हरिस्त का कोई अंत नज़र नहीं आता, तो यह उन एकतरफा विनाशकारी सरकारी, या कहेँ व्यवस्थागत, प्राथमिकताओं का असर है जिनका आधार भारत के समाजों में न होकर पश्चिमी देशों की चमक-दमक से अधिक कुछ नहीं है. किसान, आदिवासी, कारीगर सबकी आय सरकारी वेतनों से कम न हो यह कहने का मतलब यह है कि न्याय की कसौटी लोकविद्याधर समाज और संगठित क्षेत्रों के लोगों के लिए अलग न हो, लोकविद्या और आधुनिक ज्ञान में ऊँच-नीच न हो.

बेरोजगारी और लोकविद्या

व्यवस्थागत प्राथमिकताओं का ही परिणाम है लगातार बढ़ती बेरोजगारी. एक तरह से यह लगातार घटती आय का ही दूसरा रूप है. अगर खेती की आय लगातार घटती है तो उसके बलपर जीवनयापन कर पानेवालों की संख्या घटनी होगी और उनमें से कुछ खेती से विस्थापित होंगे. यही बात कारीगर समाजों को भी लागू होती है. आदिवासी समाजों को भी जो अधिकतर खेती भी करते हैं. इसके अलावा वन विभाग के कानूनों और भ्रष्टाचार कारण उन्हें जंगलों की अन्य प्रकार की उपज और जमीनों से भी हाथ धोना पड़ा है. बढ़ती बेरोजगारी का कारण यही प्रक्रियाएं हैं. इसका अर्थ यह हुआ कि अपने ज्ञान और श्रम पर जीनेवाले इस सभी समाजों के लोगों का अपने परम्परागत उत्पादक सामाजिक कार्यों से विस्थापित होना ही बेरोजगारी की जड़ है.

हो सकता है कि परिवर्तन के दौर से गुजरते हर समाज में यह अपरिहार्य हो. लेकिन हमारे समाज में चल रही प्रक्रियाएं इस प्रकार के किसी परिवर्तन की कतई द्योतक नहीं हैं, बल्कि लोकविद्या पर आधारित कार्यों का बिखराव दर्शाती हैं. जिस आधुनिकीकरण के नाम से ये प्रक्रियाएं चल रही हैं उसकी यह ताकत नहीं है कि लोकविद्या आधारित कामों से विस्थापित हुए सब आधुनिक जगत में सम्मानजनक काम और स्थान पाएं. सच तो यह है कि आधुनिकीकरण को अंजाम देने के लिए इस हद तक लोकविद्याधर समाजों के ज्ञान और श्रम को लूटने की जरूरत पड़ती है कि जिसके परिणामवश परम्परागत कामों से बेदखल और विस्थापित किये जानेवालों की संख्या आधुनिक क्षेत्र में पैदा किये जा सकनेवाले कुल कामों से कई गुना अधिक होती है. यह वह बंजर जमीन है, जहाँ बढ़ती बेरोजगारी का बबूल मजबूती से जड़ पकड़े और बाकी कुछ न उगे. यही कारण है कि उदारीकरण और वैश्वीकरण, जिन्हें आधुनिकीकरण और विकास का इंजन माना जाता रहा है, के तीन दशकों में ग्रामीण इलाकों में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती गई, जिनके पास करने के लिए कोई काम ही नहीं है.

कंप्यूटर और सूचना युग के शुरुआती दौर – जो कि वित्तीय पूंजी के वैश्वीकरण और लोकविद्या के शोषण में वृद्धि का भी दौर है - में अवश्य नए काम, और कुछ नए प्रकार के काम भी अस्तित्व में आये. ऐसा प्रतीत हुआ कि कुछ लोगों की आय बढ़ी. यह वह समय है जब दुनिया भर में मध्यम वर्ग का आकार बढ़ा. मध्यम वर्ग वह है जिसका हर व्यक्ति प्रतिदिन पीपीपी डॉलर 2 से 10, या लगभग 44 से 220 रुपये खर्चता है. (पीपीपी: पर्चेजिंग पावर पैरिटी. 1 पीपीपी डॉलर २०२१ में २२ रु. के आसपास था. इसका मतलब यह है कि २०२१ में अमेरिका में 1 डॉलर में जो वस्तुएं / सेवायें खरीदी जा सकती हैं, उन्हें खरीदने के लिए उसी वर्ष भारत में लगभग २२ रु. लगते.) भारत के इस मध्यम वर्ग के अधिकतर लोग 6 पीपीपी डॉलर, मतलब १३० रु प्रतिदिन से कम ही खर्च करते हैं.

मध्यम वर्ग के इस निचले तबके में 99% गुमठी-ठेलेवाले, होटल-रेस्तरां में काम करनेवाले, बढई, चर्मकार, पेंटर, भवन-निर्माण श्रमिक, कपडेकी दुकानों के कामगार, बिजली और केबल कामगार, वेल्डिंग, मरम्मत, कृत्रिम आभूषण, जरी और चूड़ी कामगार, ऑटो-रिक्शा-टैक्सी चालक, सुरक्षा कर्मचारी और डाटा-एंट्री का काम करने वाले शामिल है। मध्यम वर्ग की भारी वृद्धि का कारण इस निचले मध्यम वर्ग के लोगों की संख्या में बढ़ोतरी है। इतना ही नहीं, इनमें से अधिकतर लोग पहले खेती किया करते थे, और अब अपने बल पर लकड़ी, बिजली, प्लंबिंग का काम सीख कर कस्बों-छोटे शहरों में जिदगी बसर कर रहे है। ये सभी गावों से नज़दीकी सम्बन्ध रखते हैं। किसान आन्दोलन का शहरों में समर्थन इन्हीं लोगों के बल पर है। जाहिर है कि यह मध्यम वर्ग लोकविद्या समाजों का हिस्सा है। इनकी आय उस पैसे के बल पर है जो सरकार की अंधाधुन्ध आधुनिकीकरण की नीति के चलते शहरों में झोंका जा रहा है। इन प्रकल्पों में मोटी तनख्वाहें पानेवाले मैनेजर, इंजीनियर, डॉक्टर, बैंकर, सरकारी अफसर, बड़ी पूंजी के निवेशक इत्यादि लगे हुए हैं जिनके कारण शहरों में तमाम चीजों की माँग बढ़ी है। लेकिन इनकी संख्या मामूली है। यह इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि हर माह पचास हजार से अधिक आय भारत में मात्र पांच प्रतिशत लोगों को ही हासिल है। जाहिर है, नए मध्यम वर्ग के जिस निचले हिस्से की हमने ऊपर बात की उसकी आय की अपने आप में कोई सुरक्षितता नहीं है। अगर यह याद करें कि महामारी के दौरान इनमे से लगभग साढे -सात करोड़ लोग फिर एक बार प्रतिदिन 2 पीपीपी डॉलर, यानी 44 रु. से कम खर्चने वालों की श्रेणी में आ गए, तो इस तर्क से सहज इत्तेफाक हो जाएगा। साथ ही अपने गाँव और गरीबी-रेखा से नीचे लौटने के इस दौर में इन सबको अपनी सारी बचत और पूंजी से भी हाथ धोना पडा। महामारी का प्रभाव घटने के बाद इनमें से बहुतेरे अपने कामों पर लौट तो आये हैं, लेकिन महामारी से पहले की अपनी आय पर नहीं। भविष्य में किसी भी प्रकार का संकट वर्तमान व्यवस्था के सामने पैदा होता है तो मध्यम वर्ग में जिस वृद्धि की और गरीबी रेखा से जिन्हें ऊपर खींचने की डींग सरकारी महकमों से हांकी जाती है, उसके साथ व्यवस्था क्या बर्ताव करेगी, यह भी महामारी ने सबके सामने रख दिया है। जाहिर है, जिनको लूट कर आधुनिक व्यवस्था खड़ी हुई है, उन्हीं को व्यवस्था के संकटों का और अनिश्चितताओं का खामियाजा भी भुगतना होगा। इस सारी प्रक्रिया को किन अर्थों में नए काम और मौके ईजाद करने की प्रक्रिया माना जाय? यह तो आँखों में धूल झोंकना हुआ।

दर असल आधुनिक प्रौद्योगिकी मनुष्य के श्रम का तकलीफदायक हिस्सा ही सिर्फ नहीं घटाती, कि जिसके लिए उसकी सराहना होती आई है, बल्कि अंततोगत्वा मनुष्यों की आवश्यकता ही खत्म करती जाती है। यह सच है कि इस तरह की प्रक्रियाएं औद्योगिक प्रौद्योगिकी में पहले भी देखी गई हैं। जैसे, एक ही मिल-मजदूर द्वारा कई लूम एक साथ चलाना। फिर भी कंप्यूटर और सूचना युग की प्रौद्योगिकी की पहुँच गुणात्मक अर्थ में इससे अलग है और

उसके परिणाम दूरगामी भी. लूम चलाने जैसे माल नीरस और एकविध काम ही मशीनें नहीं करेंगी, बल्कि जहाँ बुद्धिमानी से निर्णय लेकर कुछ कार्य होना है वहाँ भी मशीनों की दखलंदाजी आम होगी. आधुनिक प्रौद्योगिकी के पहले दौर की ही तरह पढ़े-लिखों में इन नए प्रकार की मशीनों का भी समर्थन यह कहते हुए किया जाता रहा है कि इसके प्रसार से जो नया समाज खड़ा होगा उसमें कई नए प्रकार के मौके और काम ईजाद किये जा सकेंगे, जिनके बल पर बेरोजगारी दूर होगी और जीवन-स्तर भी ऊँचा होगा. जाहिर है की यह दावा पिछले से भी अधिक धोखाधड़ी से भरपूर है. इसने बेरोजगारी के सवाल का हल देना तो दूर, यह तो कठिनाइयों में कई स्तर जोड़ने का ही काम हो सकता है. भारी बेरोजगारी का कारण बनने के साथ ही इस प्रकार की प्रौद्योगिकी निर्णय-प्रक्रिया और सत्ता के केन्द्रीकरण का औजार भी बनती है. इतना ही नहीं, यह समाजों की पहल के नाश में नए आयाम जोड़ती है.

दर असल सच बात तो यह है कि बेरोजगारी के सवाल का कोई 'आधुनिक' हल नहीं है. जिन चीजों के प्रसार को आज आधुनिकता का नाम दिया जाता है उनमें ऐसी कोई प्रौद्योगिकी या प्रणाली नहीं जो बड़ी भारी पूंजी और सख्त नियंत्रण के बिना संभव हो. बड़ी भारी पूंजी नोट छापने से तो जमा नहीं हो सकती. समाज के बहुत बड़े हिस्से के ज्ञान और श्रम से मुनाफ़ा उठाये बिना यह असंभव है. सख्त नियंत्रण का अर्थ यह है कि इस पूंजी पर कब्जा कुछ ही लोग करेंगे. यह रास्ता सबके के लिए सम्मानजनक काम कैसे दे सकता है? बल्कि बेरोजगारी का हल तो यह है कि बेरोजगारी के स्रोत सूख जाएँ. यह तब संभव होगा जब लोकविद्या पर आधारित कामों की टूट और बिखराव पर काबू किया जा सकेगा. इन समाज के लोगों की आय अगर सुनिश्चित होगी और इस स्तर की होगी कि वे सम्मान जनक जीवन जी सकें तभी यह हो सकता है. किसान आन्दोलन में किसानों के साथ खड़े सभी समाजों के लोग यह पहचानते हैं कि एमएसपी की माँग तो आय की माँग है, जो इस व्यवस्था से उनकी भी माँग है.

आय और सामाजिक पुनरुत्थान

चार दशक पूर्व जब कृषि उत्पादों के लिए उचित मूल्य का सवाल किसान आन्दोलन में पहली बार उठा, तब यह चर्चा होती थी की इसके कौनसे अच्छे परिणाम हो सकते हैं. सबकी नज़रों में यह तो साफ़ था कि इससे ग्रामीण इलाकों में खुशहाली का आलम फिर लौट कर आयेगा. खेती में प्रगति होगी. नए नए व्यवसाय खुलेंगे. कृषि उपज पर प्रक्रिया करनेवाले उद्योग खड़े होंगे. हो सकता है कुछ बड़े फार्म टूरिस्टों के आवागमन के स्थान भी बन जाएँ.

लेकिन वह दौर वैश्वीकरण और संचार-युग की शुरुआत का था, जिसने दुनियाभर में पढ़े-लिखे लोगों और युवाओं को कुछ ऐसे सब्ज-बाग़ दिखाए और कुछ ऐसी राजनैतिक हलचल पैदा की कि जिसमें सभी प्रकार के जन-आन्दोलन और संघर्ष क्षीण होते गए. किसान आन्दोलन भी थम सा गया. संचार युग ने नियंत्रित अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय

पूंजी-निवेश की सम्भावनाओं में भारी विस्तार किया. और साथ ही लोगों के अपने ज्ञान और श्रम के बलपर दुनिया में दूर-दूर के प्रदेशों में हुए उत्पादन के बल पर भारी मुनाफा कमाने की संभावनाओं का भी. नतीजतन लोकविद्याधर समाजों का शोषण और अधिक कारगर तरीकों से होने लगा. वर्तमान किसान आन्दोलन वित्तीय पूंजी द्वारा संचालित आधुनिक विधाओं से लोकविद्याधर समाज के सीधे टकराव का अंजाम है. पिछले चार दशकों के दौर में यह बात भी साफ हुई कि नए युग का सबके लिए खुशहाली का दावा झूठ का पुलिदा भर है. आज, जब पश्चिमी देशों के लिए भी इस व्यवस्था की आंतरिक और पर्यावरण की समस्याओं से जूझना कठिन होता जाता है, यह संभावना न के बराबर है कि व्यवस्था पर मंडराते बादल उड़ाने का स्वांग भरा जा सकेगा.

इन स्थितियों में किसानों की आय बढ़ने के मतलब पर पुनः संवाद हो यह जरूरी है. पहली बात तो यह है कि इस व्यवस्था के वाहक 'किसान की आय में बढ़ोत्तरी' से जो कुछ समझते हैं वह किसानों की समझ से एकदम भिन्न है. यह साफ हो चुका है कि व्यवस्था के लिए आय बढ़ने का मतलब किसान को वैश्विक बाजार से जोड़ने से है, जो यह सरकार तीन कानूनों के जरिये करना चाहती थी. जब कि किसान जानते हैं कि यह तो दरिया में डूबने का जरिया है. एक कौम के नाते वे इस बाजार को, और इसके पुराने औपनिवेशिक संस्करणों को खूब जानते हैं; और 'मुक्त स्पर्धा' के छलावे को भी. किसान के लिए 'सम्मानजनक आय' वह है जो गावों में खुशहाली का पैगाम तो लाएगी ही, लेकिन इससे आगे वह भी है जिसके बल पर किसान अपने टूट की कगार पर खड़े संसाधनों को व्यवस्थित करने में लग सकेगा. यह भी संभव है कि जो लोग गाँवों से विस्थापित होकर काम की तलाश में शहरों में आये थे वे वापस लौटें. अगर पहले के परिचित कार्यों में आय बढ़ती है तो कोई कारण नहीं कि यह नहीं हो सकता. गाँवों से शहरों में विस्थापित मजदूरों का महामारी का अनुभव यही इंगित करता है. अगर खेती में उचित आय होती तो क्या गाँव लौटनेवाले फिर से शहर का रास्ता पकड़ते?

शहरों के नौकरीपेशा लोगों का वेतन बढ़ने से व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुओं की माँग बढ़ती है. इस बढ़ोत्तरी में भारी मात्रा में इन वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले बड़ी पूंजी के मालिकों की रुचि अधिक है. खेती में सम्मानजनक आय का परिणाम यही होगा, यह बिलकुल जरूरी नहीं. एक एहम नतीजा यह हो सकता है कि यह आय समाज में वितरित पूंजी का काम करे और अन्य कई नए किस्म के उत्पादक और सामाजिक कार्यों में लगाई जाय जो स्थानीय व्यवस्थाओं की मजबूती का आधार बनें.